आखिर स्कूल में सजा है क्या ?

✍ **प्रियंका**

क्या सचमुच ऐसा है कि स्कूल में बच्चों का सीखना बिना सजा के असंभव है? यदि हां, तो क्यों? और यदि नहीं, तो क्यों? हमें इस बात पर विचार करने की जरूरत है कि जब हम स्कूल में सजा की बात करते हैं तो क्या हम सिर्फ उसी सजा की बात कर रहे होते हैं जो हमें स्पष्टता के साथ दिखाई पड़ती है या फिर उस सजा की भी बात कर रहे हैं जो सजा के छुपे प्रारूपों को शामिल करती है? स्कूल में सजा का क्या उद्देश्य होता है?

दशकों से बच्चों के सीखने पर जो अध्ययन होते रहे हैं, हो रहे हैं, वे मानते हैं कि बच्चे को आत्मनिर्भर बनने की तरफ बढ़ना चाहिए, शिक्षक को फैसिलिटेटर की तरह काम करना चाहिए। हर बच्चा सहजता से सीखने के लिए उत्सुक होता है लेकिन सजा उसमें बाधक होती है, हम फिर भी सजा देने के लिए उतावले रहते हैं। आखिर क्यों?

मैं इस मुद्दे को दो हिस्सों में विभाजित करके रखना चाहूंगी। मैंने पहले हिस्से में इसके सामाजिक क्षेत्र पर विचार किया है। सामाजिक संरचना में सजा का क्या मतलब है, ज्ञान और सत्ता के बीच क्या रिश्ता है, सजा के क्या उद्देश्य होते हैं और उसके निहितार्थ कसूरवार पर किस तरह का असर होता है। साथ ही सजा के क्या–क्या रूप होते हैं और क्यों, जैसे सवालों को इसमें रखने की कोशिश है। दूसरे हिस्से में सीखने के दृष्टिकोण; जिसमें सीखने और सजा के बीच के रिश्ते और बच्चों पर उसके निहितार्थ को समझने का प्रयत्न किया है।



हम स्कूल के अपने अनुभवों को याद करने की कोशिश करें तो देख सकते हैं कि स्कूल में सजा अलग–अलग रूपों में हमारे सामने आती है। सबसे सामान्य और स्पष्ट रूप से दिखाई देने वाली सजा है शारीरिक दंड। इसके अलावा



सजा के और रूप भी दिखाई देते हैं जैसे कि सार्वजनिक रूप से शर्मसार किया जाना। उदाहरण के लिए कुछ गलत काम (शिक्षक की नजर में) करने पर कक्षा में लगे चार्ट पर बच्चे के नाम के आगे एक खास रंग का स्टार (मैंने ज्यादातर काले रंग का देखा है) लगा दिया जाता है जो सब बच्चों को दिखाई देता है। कई बार बच्चे को कक्षा के बाहर या प्रिंसिपल के दफ्तर के बाहर खड़े होने के लिए कहा जाता है; जहां से स्कूल के सब सदस्यों को दिख सके कि इस बच्चे ने कुछ गलती की है। कई बार तो बच्चे को यह भी मालूम नहीं होता कि उसे सजा क्यों या किस बात की मिल रही है। फिर कुछ ऐसे भी तरीके होते हैं जिसमें बच्चे को नीचा दिखाने की कोशिश की जाती है जैसे कि बच्चे को बुरी नजर से घूरना या बच्चे का मजाक उड़ाना या उसे किन्हीं असम्मानजनक शब्दों से संबोधित करना इत्यादि। अब इन सारे अनुभवों को एक सामाजिक ढांचे में स्थापित करके देखते हैं।

सामाजिक विचारक माईकल फूको ने ज्ञान और सत्ता के बीच के रिश्ते पर कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उनकी किताब 'डिसिप्लीन एंड पनिश' में उन्होंने समाज में सजा और फिर स्कूल में सजा के बीच के संबंध पर विस्तार से विचार किया है। यहां हम उसी की मदद से सजा को समझने की कोशिश करेंगे। फूको का केंद्रीय मुद्दा था कि कैसे सजा सत्ता से एक सीधा रिश्ता रखती है, जिसमें सत्ता लोगों को ट्रेंड करती है, 'मास्क' करती है और प्रताड़ित करती है जो कि सत्ता को अपने मुताबिक 'सही' लगता हो। जब हम इस बात को स्कूल के संदर्भ में देखते हैं तो मेरे दिमाग में यह सवाल उठते हैं कि स्कूल में सत्ता कौन है? और क्या सत्ता को वाकई में इसके बारे में मालूम है कि क्या 'सही' है और क्या 'गलत' है? स्कूल में ऐसा कौन–सा वातावरण है या वो कौन–से तत्व हैं जिनमें यह रिश्ता कामयाब होता है?

हम आखिरी सवाल को लेते हुए इसे एक उदाहरण से समझने की कोशिश करते हैं। अगर आप स्कूल की इमारतों के ढांचे को ही देखें तो अधिकतर स्कूलों में (हमेशा नहीं) एक पैनौप्टिकल (panoptical) ढांचा नजर आता है। पैनौप्टिकल नामक ढांचा 18वीं सदी के जेरेमी बेंथम ने डिजाईन किया था। इसमें जेल में एक अकेला वॉचमैन सारे

कैदियों पर नजर रख सकता था। लेकिन कैदी न एक–दूसरे को देख सकते, न बातचीत कर सकते और न ही वे वॉचमैन को देख सकते थे। अब वॉचमैन भी हर समय हर कैदी पर तो नजर नहीं रख सकता था। लेकिन जब वह किसी कैदी पर नजर रखता तो उस कैदी को यह नहीं पता चलता था कि वॉचमैन उस पर नजर रखे हुए है। इसलिए कैदी हर समय ऐसा व्यवहार करते थे जैसे उन्हें कोई हर समय देख रहा हो। स्कूल में इसका तात्पर्य यह होगा कि जो सत्ता है यानी प्रिंसिपल अथवा शिक्षक, उनके दफ्तर ऐसी जगहों पर पाए जाते हैं जहां से बच्चों पर ज्यादा से ज्यादा चौकसी की जा सके ताकि बच्चे कुछ गलती (सत्ता की नजर में) करने की संभावना ही न रख पाएं। वैसे आजकल कक्षा–कक्षों में कैमरे लगाने का रिवाज भी संभवतया इसी नजरिए का परिणाम है।

अगर हम कक्षा–कक्षों पर भी गौर करें तो वहां भी कुछ पैनौप्टिकल ढांचे की ही छाया नजर आती है। कक्षा में सत्ता का प्रतिरूप शिक्षक है और उसकी कुर्सी अलग से सामने होती है जो कई बार एक ऊंचे मंच पर भी रखी हो सकती है और बच्चों को नीची कुर्सी और मेज पर अथवा जमीन पर पंक्तियों में बिठाया जाता है। इस तरह से इस ढांचे में शिक्षक द्वारा हर बच्चे पर नजर रखी जा सकती है और बच्चे चाहकर भी एक साथ कक्षा के अपने समस्त साथियों को नहीं देख सकते और न ही बातचीत कर सकते हैं। अगर वे ऐसा करते हैं तो एक तो शिक्षक उन्हें तुरंत देख लेगा और इसके बदले बच्चों को सजा मिलेगी। दूसरा यह इस ढांचे में ही निहित है कि वो चाहकर भी अधिक से अधिक अपने से आगे–पीछे या दाएं–बाएं ही बातचीत कर सकते हैं। मतलब कि न सिर्फ स्कूल के ढांचे में बल्कि कक्षा–कक्ष के ढांचे में भी पैनौप्टिकल ढांचे का आकार नजर आता है। अतः जाहिर–सी बात है कि ऐसी कक्षा में फिर शिक्षक का बच्चों के साथ पदानुक्रमित (Hierarchical) रिश्ता ही बन सकता है जिसमें शिक्षक एक प्रेक्षक की भूमिका निभाता है और स्कूल एवं कक्षा के ढांचे ऑब्जरवेटरी (observatory) की भूमिका निभाते हैं। अब मेरे दिमाग में सवाल यह उठता है कि ऐसी व्यवस्थाओं में बच्चों की क्या भूमिका होगी? क्या ऐसे ढांचों में वह एक हद से ज्यादा सक्रिय सीखने वाला बन सकता है? अथवा क्या वह अपने साथियों के साथ संवाद करते हुए सीख सकता है? अथवा क्या वह स्कूल या कक्षा या अन्य चीजों में निर्णय करने में भागीदारी कर सकता है? यहां यह ध्यान रखने की बात है कि सहमति लेना और निर्णय करने में भागीदारी करना दो अलग–अलग बातें हैं। अतः सवाल यह भी है कि क्या हम बच्चों की काबिलियत पर भरोसा और विश्वास करते हैं?

निःसंदेह ऐसे ढांचों में बच्चों को सत्ता (प्रिंसिपल, शिक्षक) नियंत्रित करती है। सत्ता तंत्र अपनी उम्मीदों को जैसा सही समझता है; उन्हें पूरा करने के लिए बच्चों पर निरंतर विभिन्न तरीकों से निगरानी (surveillance) रखता है। जिसमें यह मान्यता निहित होती है कि अधिकांश बच्चे पराधीन और निष्क्रिय (डोसाइल बोडीज) होते हैं जिनकी अपनी कोई आवाज नहीं होती, उन्हें केवल सुनना और पालन करना होता है। निरंतर निगरानी के लिए इस तरह के ढांचों को निर्मित किया जाता है ताकि लोगों को विभाजित रखा जा सके और उनसे अधिक से अधिक उत्पादन लिया





जा सके, जिसमें सत्ता के खिलाफ आवाज उठने के कम से कम विकल्प हों।

अब अगर इसी बात को हम स्कूल के संदर्भ में देखें तो ढांचों की यह मान्यता हमें बच्चों के बैठने की व्यवस्था में दिखाई देती है। बच्चों को इस तरह से पंक्तियों में बिठाया जाता है कि शिक्षक अपनी जगह पर बैठे–बैठे बच्चों की निरंतर निगरानी कर सके। इस व्यवस्था में सत्ता द्वारा निर्मित नियमों के खिलाफ आवाज उठाने का विकल्प ही नहीं बचता है। मकसद यह भी होता है कि बच्चे शिक्षक द्वारा करने को कही हुई बात से भटकें नहीं और न इधर–उधर की बातचीत कर सकें। यह अलग बात है कि इन सबके बावजूद बच्चे कक्षाओं में ऐसा बहुत कुछ कर लेते हैं जिसका सत्ता को पता ही नहीं होता।

इसका एक और पहलू है 'नॉर्मलाईजिंग जजमेंट' का, जो स्कूल के संदर्भ में बड़े स्पष्ट तरीके से दिखाई देता है। जहां बच्चों को एकरूपीय तरीके से बोलने का, पहनने का और कार्य करने का आदेश दिया जाता है और अधिक से अधिक विभिन्न तरीकों से इस एकरूपता को विकसित किया जाता है। एक उदाहरण स्कूल में यूनीफॉर्म का होना है, सब बच्चों को हर रोज एक जैसे कपड़े पहनने पड़ते हैं। दूसरा उदाहरण शिक्षक द्वारा कक्षा में सब बच्चों को हर रोज एक जैसा कार्य करवाना है। ऐसे ही और बहुत सारे उदाहरण आप ढूंढ़ सकते हैं। अगर हम इस नॉर्मलाईजिंग जजमेंट और स्कूल में पदानुक्रम को साथ चलाएं तो बच्चों का वर्गीकरण करना तथा उन्हें एक लेबल देना और भी आसान हो जाता है। इसका यह मतलब हुआ कि जब बच्चों में एकरूपता बनने लगे तब अगर एक बच्चा किसी कारण से उसका पालन नहीं कर पाए तो उसे कोई न कोई दंड मिलता है। उदाहरण के लिए यूनीफॉर्म में काले जूते की जगह कोई और रंग के जूते पहनकर आए तो वह बच्चा और भी अलग दिखाई देता है जिससे सजा देने का एक वातावरण विकसित होता है। फूको हमेशा इस बात जोर देते हैं कि सत्ता अपने लोगों का अपने हिसाब से उत्पादन या निर्माण करती है। इसलिए सजा का उद्देश्य यह नहीं होता कि उससे अपराधी पछतावा करे बल्कि यह कि वह अपराधी को फिर से संगठित करे ताकि वह सत्ता की इच्छाओं का पालन करे। अतः लोगों का सत्ता की जरूरत के हिसाब से निर्माण किया जाता है। अब सवाल यह है कि क्या स्कूल का भी यही उद्देश्य होता है या होना चाहिए?

शायद आपको अब तक की बातचीत में यह दिख भी रहा होगा कि मैं सजा के किसी एक रूप की बात नहीं कर रही हूं जैसे कि शारीरिक दंड। बल्कि मैं शारीरिक दंड की तो बात बिल्कुल भी नहीं कर रही हूं। मैं यहां पर एक बड़े मुद्दे की बात कर रही हूं कि कैसे हम स्कूल की इमारतों से लेकर अपने कार्य करने के तरीके और रवैये के परिणामस्वरूप उसके जो निहितार्थ बनते हैं उनसे स्कूल के अंदर एक सजा का वातावरण उत्पन्न कर रहे हैं। इसलिए शिक्षणशास्त्र के स्तर पर हमें इन बातों पर गौर करना पड़ेगा कि शिक्षक और बच्चों के बीच जिस तरह का रिश्ता है, उस रिश्ते को बनाने में स्कूल के बुनियादी ढांचे कैसी भूमिका निभा रहे हैं। ये कुछ ऐसी बातें हैं जिन पर शिक्षाविदों को विचारना चाहिए जिससे यह समझ बन सके कि अगर किसी स्कूल में सजा का मनोभाव उत्पन्न होता है तो ऐसा क्यों हो रहा है और इस स्थिति या मनोदशा में सुधार करने के लिए शिक्षक या स्कूल प्रशासन किस तरह के प्रयास कर सकते हैं?

अब मैं सजा के सामाजिक दृष्टिकोण से आगे बढ़कर इस पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बात करना चाहूंगी। जिसके केंद्र में है बच्चे का सीखना। अधिकतम शिक्षाविद् मानते हैं कि एक बच्चा जब स्कूल में प्रवेश करता है तो वह सहजता से सीखने के लिए उत्सुक होता है। स्कूल

जाने की स्वाभाविक जिज्ञासा किसी भी छोटे बच्चे में आप देख सकते हैं। इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि वह इस दुनिया को जानना–समझना चाहता है ताकि अपने आपको इस दुनिया से संबंधित महसूस करे और अपने मानसिक संसार का विस्तार कर सके। वह अपनी समझ से दुनिया को अपने लिए अर्थ देना चाहता है। इस सबमें शिक्षक का कार्य न सिर्फ इस उत्सुकता का परिपोषण करना बनता है बल्कि उसको आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास की तरफ बढ़ाना भी होता है ताकि वह बच्चा एक दिन खुद अपनी आवश्यकताओं और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने में सक्षम हो सके। अगर हम यह बात मानकर चलें तो फिर इसका यह भी निहितार्थ निकलता है कि स्कूल में ऐसा वातावरण होना चाहिए जिसमें बच्चे और शिक्षक स्वतंत्र और स्वायत्त हों। यहां स्वायत्त होने का अर्थ अराजकता नहीं है अपितु स्वायत्तता के साथ जिम्मेदारी भी आती है। मुझे ऐसा लगता है कि तब ही ऊपर लिखा वांछित सीखना सहज तरीके से सफल हो सकेगा। परंतु मुझे नारेबाजी में ऐसा दिखाई देता है कि भारत अभी रचनावाद को कक्षाओं में जोरों से काम में ले रहा है, यह तो नहीं पता कि यह कितना सत्य है लेकिन अधिकतर स्कूलों में फिर भी सजा बरकरार है जो इस दृष्टिकोण के बिल्कुल विपरीत जाती है। ऐसा लगता है कि हमने रचनावाद की रट तो लगा रखी है लेकिन असल में अपने स्कूलों में अभी भी व्यवहारवादी दृष्टिकोण का ही ज्यादा अभ्यास कर रहे हैं।

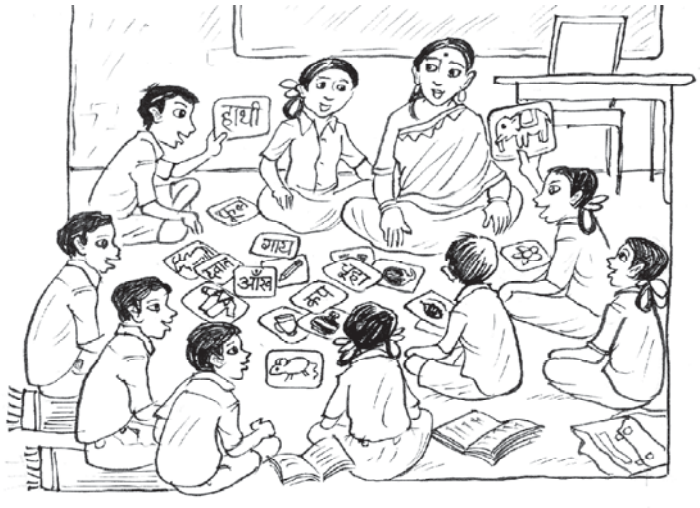
व्यवहारवादी मानते हैं कि सीखना तब सफल होता है जब पूर्व निर्धारित विशिष्ट वातावरण के प्रोत्साहन से 'उचित' प्रतिक्रिया का प्रदर्शन हो। व्यवहारवादियों की कुछ मूल मान्यताएं और विशेषताएं हैं जैसे बच्चों में प्रत्यक्ष और औसत योग्य परिणाम, पहले प्राथमिक स्तरों में श्रेष्ठता पाकर ही जटिल स्तरों की तरफ बढ़ना, बार–बार पुनर्बलन से प्रोत्साहन–प्रतिक्रिया (stimulus-response) कर संगति (association) प्राप्त करना जिससे निष्पादन पर प्रभाव पड़ सके। इसकी मान्यता में सीखना रेखीय होता है। सब जगह सब बच्चों में एकरूपता की मान्यता होती है और कोई बच्चा अद्वितीय नहीं होता। शिक्षक अधिकांश समय बोलता है और सबसे महत्त्वपूर्ण बात कि बच्चे निष्क्रिय शिक्षार्थी होते हैं। व्यवहारवादी सिद्धांत की दार्शनिक मान्यताएं मुख्यतः वस्तुनिष्ठ होती हैं। इसलिए शिक्षण का लक्ष्य दुनिया की संरचना को शिक्षार्थी पर लादना या रटाना भर बन जाता है।

तो फिर यहां हो यह रहा है कि पहली बात, सामग्री पूर्वनिर्धारित है और साथ के साथ उस सामग्री के औचित्य और अनौचित्य भी पूर्वनिर्धारित हैं जिसमें न तो कोई बदलाव की संभावना है और न ही किसी भी तरह के सवाल करने की छूट है। दूसरी बात यह है कि यहां निष्क्रिय शिक्षार्थी और फूको के 'डोसाइल बोडीज' में समानता दिखाई देती है जहां बच्चे मूकदर्शक की तरह शिक्षक को या तो सुनते हैं या फिर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। तीसरा, सब बच्चों को एकरूपीय नजर से देखा जाता है जिसकी वजह से बच्चों पर एक जैसी शिक्षणशास्त्रीय विधियां, एक जैसी सामग्री, एक जैसा वातावरण, इत्यादि इस्तेमाल किए जाते हैं।

इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक, शिक्षक का सत्ता जैसा अधिकार बच्चों पर होता है और दो, एकरूपता का निर्माण करने के कारण नॉर्मलाईजिंग जजमेंट देना जिससे बच्चों का वर्गीकरण आसानी से अच्छे और बुरे में किया जा सकता है और बुरा बच्चा दंड का भागी बन जाता है। यहां मैं एक और स्पष्टीकरण देना चाहूंगी कि मैं व्यवहारवादी दृष्टिकोण की किसी और दृष्टिकोण से तुलना नहीं करना चाहती, बस यही कहना चाहती हूं कि ऐसा लगता है कि अभी ज्यादा जोर व्यवहारवादी दृष्टिकोण की तरफ कायम है।

हम कई बार सजा को और चीजों के संबंध में नहीं बल्कि हम उसे अपने आप में स्वाधीन देखते हैं। इसकी वजह





से हमारी सजा की समझ बहुत ही सतही हो जाती है। हमारी यह सतही समझ सजा को हटाने में बाधा डालती है क्योंकि पूरे ढांचे में हम कोई बदलाव नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए अगर हम एक शिक्षक से बातचीत करें कि वह बच्चों को कुछ गलत करने पर सजा न दे और साथ में शिक्षक का बच्चे के साथ पदानुक्रमित रिश्ता भी बरकरार रखे तो उसका निहितार्थ ज्यादा से ज्यादा सजा के रूप को बदलने में होगा लेकिन सजा जारी जरूर रहेगी।

मैं इस बात पर जोर देना चाहूंगी कि जैसे सजा हमारे समाज में मौजूद है वैसे ही वह हमारे स्कूल में भी कायम है और जब तक हम इन अंतर्संबंधों के तत्वों को पहचानकर उनका पुनर्गठन नहीं करते तब तक हम सजा से मुक्ति नहीं पा सकेंगे। हमें सजा को उसकी समग्रता में देखना होगा। अधिकांश स्कूल हैं जो सजा को काम में लेते हैं परंतु कुछ इसके अपवाद भी हो सकते हैं।

यहां मैंने कुछ सामान्य स्कूलों की बात की है जिनका मुझे अनुभव रहा है। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि सारे ही स्कूल सजा को काम में लेते हैं। जो स्कूल सच में मानते हैं कि बच्चों को सजा नहीं दी जानी चाहिए हमें उन स्कूलों को अच्छे से और समग्रता में समझना चाहिए। यह समझना चाहिए कि वह स्कूल किस तरह से बनाया गया है अर्थात उसका ढांचा किस तरह से निर्मित किया गया है, कक्षाओं में बच्चे कैसे बैठते हैं, शिक्षक और बच्चों की क्या भूमिका है और उनके आपसी रिश्ते कैसे हैं, पढ़ने–लिखने के क्या तरीके हैं, इत्यादि। उदाहरण के लिए मुझे एक बार एक ऐसा स्कूल देखने का मौका मिला जिसकी इमारत घर जैसा सुकून देने वाली है। इसमें कक्षाओं, स्टाफरूम इत्यादि पर कोई दरवाजे नहीं हैं ताकि सब सदस्य एक–दूसरे की जगह में आमंत्रित महसूस करें। जरूरत पड़ने पर एक–दूसरे से संवाद कर सकें। बच्चे कक्षाओं में एक गोला बनाकर बैठते हैं और शिक्षक भी उसी गोले में अपनी जगह तलाशता है। जिसका परिणाम यह होता है कि कक्षा के सब सदस्य एक–दूसरे को देख सकते हैं, जरूरत पड़ने पर एक–दूसरे को अनुशासित करते हैं और विभिन्न मुद्दों पर बातचीत करते हैं। बच्चों के बीच एकरूपता बनाने की कोई कोशिश नहीं है बल्कि जो बच्चा सीखने के जिस स्तर पर है उससे आगे सीखने के लिए शुरुआत करता है। इसी तरह से बच्चों के कपड़े, उनका व्यवहार, उनकी बोल–चाल में कोई एकरूपता लाने की कोशिश नहीं है। क्योंकि यह स्कूल इस बात में यकीन करता है कि हर बच्चा अपने आप में अद्वितीय होता है और सहजता से सीखने के लिए उत्सुक भी होता है। और इसलिए इस स्कूल में किसी भी तरह की सजा दिए जाने की परंपरा विकसित नहीं हो पाई या यूं कह सकती हूं कि सजा देने की जरूरत ही महसूस नहीं होती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक बार इस बात में पूरी तरह से यकीन हो जाए तो हम न केवल खुद ब खुद बच्चों को सीखने का एक स्वतंत्र वातावरण दे पाएंगे अपितु अपने शिक्षा के ढांचों में भी बदलाव कर पाएंगे। और उसके परिणामस्वरूप प्रत्येक स्कूल इस बात में यकीन करने लगेगा कि हर बच्चा अपनी गति से सीखता है, गलतियां करते हुए सीखता है। जहां बच्चों के बीच कोई तुलना नहीं हो रही होगी, किसी को सार्वजनिक शर्मसार करने की जरूरत नहीं होगी और सही मायने में कोई सजा नहीं होगी।

प्रियंका : दिगंतर, जयपुर में असोसियेट फेलो हैं।